धर्मोंका मिलन

[सर सर्वपल्ली राधाकृष्णनके 'मीटिंग आफ रिलीजियन्स'के गुजराती अनुवादकी प्रस्तावना]

प्रस्तुत पुस्तकमें सर राधाकृष्णनने इँग्लेडमें जो अनेक व्याख्यान दिये और लेख लिखे, उनका अपुनरुक्त संग्रह है। इनमें छोटे-बड़े अनेक विषयोंकी अनेकमुखी चर्चा है ऐतिहासिक दृष्टि और तुलनात्मक पद्धतिसे की गई है।

इनमें तीन विशेषताएँ विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होती हैं — (१) जी ऊब जाय ऐसा विस्तार किये बिना मनोहर शैलीसे बिल्कुल स्फुट चर्चा करना, (२) प्रस्तुत विषयमें गंभीर भावसे लिखनेवाले अन्य अनेक लेखकोंकी साक्षी देकर सम्बद्ध अवतरणोंके समुचित संकलनसे अपने वक्तव्यको स्फुट और समृद्ध बनाना और (३) तीसरी विशेषता उनकी तर्कपटुता और समभाव है।

भूतकालकी तरह इस युगमें भी भारतमें अनेक समर्थ धर्मचिन्तक धर्मके विषयमें साधिकार लिखने-बोलनेवाले उत्पन्न हुए हैं। असाधारणता उन सबमें हैं, फिर भी भूमिका सबकी भिन्न भिन्न है। भारत और भारत-बाह्य विश्वमें धर्मविषयक विचारणा और अनुभूतिकी विशिष्ट छाप जमानेवाले पाँच महापुरुष सुविदित हैं। अरविन्द घोष गूढ़ तान्त्रिक साधना और गूढ़वाणीद्वारा धर्मके गूढ तत्त्वोंका प्रकाश करते हैं। वह पारदके रसायन जैसा सर्वभोग्य नहीं। कविवर रवीन्द्र अपनी कविसुलभ सर्वतोमुखी प्रतिभा और सहजसिद्ध भाषासमृद्धिके हृदयंगम अलंकारोंसे धर्म-तत्त्वका सरस निरूपण करते हैं। वह उपनिषत् और गीताकी गाथाओंके समान सरलतम और गूढतम दोनों प्रकारका काव्य बन जाता है। इससे वह बहुभोग्य होते हुए भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः अल्पभोग्य है। गाँधीजीके उद्गार और लेख गंभीर होते हुए भी संत-तपस्वीकी वाणीमें सर्वगम्य बन जाते हैं। इससे वे अधिकारीभेदसे बकरी और गायके दूधकी तरह पुष्टिका कार्य करते हैं। डॉ॰ भगवानदासका धर्मचिन्तन और विचारलेखन अनेक उद्यानोंके अनेकविध पुष्पोंमेंसे भृंगराज-द्वारा किये गये मधु-संचय जैसा है। वह मधुर और पथ्य है किन्तु दूधके समान सुपच नहीं। श्रीराधाकृष्णनके धर्मप्रवचन अनेक उद्यानोंके नाना लता-वृक्षोंसे चुने हुए अनेक रंगी और विविध जातिके कुसुमोंकी अत्यन्त कुशल मालाकारके द्वारा गूँथी मनोरम पुष्पमाला है, जो किसी भी प्रेक्षक अधिकारीकी दृष्टिको लुब्ध करती है और अपनी सुगंध और सुन्दरतासे वाचक और श्रोताको विषयमें लीन करके रसास्वादी बना देती है।

धर्म कहते हैं सत्यकी जिज्ञासा, विवेकपूर्ण समभाव और इन दो तत्त्वोंके आधारसे घटित जीवन-व्यवहारको। यही धर्म परिमार्थिक है। अन्य विधि-निषेध क्रियाकाण्ड, उपासना-भेद, आदि तब तक ही और उतने ही अंशोंमें यथार्थ धर्मके नामके योग्य हैं, जब तक और जितने अंशोंतक उक्त पारमार्थिक धर्मके साथ उनका अभेद्य सम्बन्ध बना है। पारमार्थिक धर्म जीवनकी मूलगत और अदृश्य वस्तु है। उसका अनुभव या साक्षात्कार, धार्मिक व्यक्तिको ही होता है, जब कि व्यावहारिक धर्म दृश्य होनेसे पर-प्रत्येय है। यदि पारमार्थिक धर्मका सम्बन्ध न हो, तो अति प्राचीन और बहुसम्मत धर्मोंको भी वस्तुतः धर्माभास कहना होगा।

आध्यात्मिक धर्म किसी एक व्यक्तिके जीवनमेंसे छोटे-बड़े स्रोतरूपसे प्रकट होता है और आसपासके मानव-समाजकी भूमिकाको प्लावित कर देता है। उस स्रोतका बल कितना ही क्यों न हो किन्तु वह सामाजिक जीवनकी भूमि-काको कुछ अंशोंतक ही आर्द्र करता है। भूमिकाकी अधूरी आर्द्रतामेंसे अनेक कीटाणुओंका जन्म होता है और वे अपनी आधारभूत भूमिकाका ही भक्षण करने लगते हैं। इतनेमें फिर किसी दूसरे व्यक्तिमेंसे धर्मस्रोत प्रकट होता है और तब वह प्राथमिक कीटाणुजन्य गन्दगीको साफ करनेके लिए तत्पर होता है। यह दूसरा स्रोत पहले स्रोतके ऊपर जमी हुई काईको हटाकर जीवनकी भूमिकामें अधिक फलदायी रसतत्त्वका सिंचन करता है। आगे चलकर उसके ऊपर भी काई जम जाती है और तब काल-क्रमसे तीसरे व्यक्तिमें प्रादुर्भूत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मस्रोत उसका मार्जन करता है। इस प्रकार मानव-जीवनकी भूमिकापर धर्म-स्रोतके अनेक प्रवाह आते रहते हैं और उनसे वह भूमिका अधिकाधिक योग्य और उर्वर होती जाती है।

धर्मस्रोतोंका प्रकटीकरण किसी एक देश या जातिकी पैतृक संपत्ति नहीं है। वह तो मानवजातिरूप एक विशाल वृक्षकी भिन्न भिन्न शाखाओंमें प्रादुर्भूत होनेवाला सुफल है। यह सच है कि उसका प्रभाव विरल व्यक्तिमें ही होता किन्तु उसके द्वारा समुदायका भी अनेक अंशोंमें विकास होता है। इसी प्रकार धर्मकी आकर्षकता, प्रतिष्ठा, उसके नामसे सब कुछ अच्छा या बुरा करनेकी शक्यता, और बुरेको प्राण देनेकी उसकी शक्ति,—इन सब बलोंके कारण मानव-समुदायमें अज्ञान और वासनाजन्य अनेक भयस्थान भी खड़े हो जाते हैं। कोई भी धर्मपंथ इन भयस्थानोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता। इससे इहलोक और परलोकके भेदको मिटानेकी, श्रेय और प्रेयके अभेदको सिद्ध करनेकी तथा आनेवाले सभी प्रकारके विक्षेपोंको लुप्त करके मानव-जीवनमें सामंजस्य स्थापित करनेकी धर्मकी मौलिक शक्ति कुंठित हो जाती है। धर्मके उत्थान और पतनके इतिहासका यही हार्द है।

धर्म-नदीके किनारे अनेक तीर्थ खड़े होते हैं, अनेक पंथोंके घाट निर्माण होते हैं। इन घाटोंसे आजीविका करनेवाले पंडे या पुरोहित अपने अपने तीर्थों या घाटोंकी महत्ता या श्रेष्ठताका आलाप करके ही सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि अन्य तीर्थों या घाटोंकी न्यूनता दिखलानेमें भी अधिक रस लेने लगते हैं। धर्मकी प्रतिष्ठाके साथ वे कुछ दूसरे तत्त्वोंका भी मिश्रण कर देते हैं। वे कहते हैं हमारा धर्म मूलतः तो शुद्ध है, किन्तु उसमें जो कुछ अशुद्धियाँ आगई हैं वह परपंथोंका आगन्तुक असर है। इसी प्रकार यदि दूसरे धर्ममें कोई अच्छा तत्त्व दिखता है तो कहते हैं कि वह तो हमारे धर्मका असर है। साथ ही सनातनताके साथ ही शुद्धि और प्रतिष्ठाका गठबन्धन करते हैं। इन और ऐसे ही अन्य विकारी तत्त्वोंके कारण लोगोंका धार्मिक जीवन क्षुब्ध होता है। प्रत्येक पंथ अपनी सनातनता और शुद्धिकी स्थापनाके लिए तो तत्पर रहता है पर अन्य पन्थोंके उच्च तत्त्वोंकी उपेक्षा करता है।

धार्मिक जीवनकी इस बुराईको दूर करनेके अनेक मार्गोंमेंसे एक सुपरिणाम-दायी मार्ग यह है कि प्रत्येक धर्मजिज्ञासुको ऐतिहासिक और तुलनात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिसे धर्मका ज्ञान कराया जाय जिससे धर्मकी शिक्षा सिर्फ एक पंथमें सीमित न रहकर सर्वपंथगामी बने और अपने पराये सभी पंथोंके स्थूल और सूक्ष्म जीवनके इतिहासका भान हो। इस प्रकारकी शिक्षासे अपने पंथकी तरह दूसरे पंथोंके भी सुतत्त्वोंका सरलतासे ज्ञान हो जाता है और परपंथोंकी तरह सुपंथकी भी त्रुटियोंका पता लग जाता है। साथ ही प्राचीनतामें ही महत्ता और शुद्धिकी भ्रान्त मान्यता भी सरलतासे लुप्त हो जाती है। इस दृष्टिसे धर्मके ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययनको बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त होता है।

धर्मके व्यापक और तटस्थ दृष्टिसे ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययनके लिए योग्य स्थान सार्वजनिक कालेज और यूनिवर्सिटियाँ ही हैं। यों तो प्रत्येक देशमें अनेक धर्मधाम हैं और उन धर्म-धामोंसे संबंधित विद्याधाम भी हैं। परन्तु विशेष विशेष सम्प्रदायोंके होनेके कारण उनमें सिर्फ उन्हीं सम्प्रदायोंका अध्ययन कराया जाता है और उन्हीं संप्रदायोंके विद्यार्थी और अध्यापक रहते हैं। ऐसे विद्याधामोंमें चाहे कितना ही उदार वातावरण क्यों न हो अन्यधर्मी विद्यार्थी और अध्यापक मुश्किलसे ही जाते हैं और यदि जाते हैं तो उनमें सम्पूर्ण रीतिसे घुल-मिल नहीं सकते। परिणामस्वरूप ऐसे विद्याधामोंका धर्म-शिक्षण एकदेशीय रह जाता है। इससे भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके बीचका अंतर और भ्रान्तियाँ दूर होनेकी अपेक्षा अगर बढ़ती नहीं है तो कम भी नहीं होतीं। यातायातके सुलभ साधनोंने इस युगमें सभी देशोंको निकट ला दिया है। संसारके भिन्न भिन्न खण्डके मनुष्य आसानीसे मिल-जुल सकते हैं। ऐसी अवस्थामें कई विषयोंमें विश्व-संघकी योजना बनानेकी शक्ति उपलब्ध हो गई है। इस युगमें मनुष्यकी रग रगमें पैठा हुआ धर्म-तत्त्वका एकदेशीय शिक्षण चल नहीं सकता और चलना भी नहीं चाहिए। वस्तुतः इस युगने ही सर्व-मिलन-योग्य कालेजों और यूनिवर्सिटियोंकी स्थापना की है। यही संस्थाएँ प्राचीन विद्याधामों और धर्म-धामोंका स्थान ले रही हैं और तदनुरूप ऐतिहासिक और तुलनात्मक धर्मशिक्षाकी नींव रखी गई है। यह शिक्षा प्राचीन धर्मधामोंको अपनी उदारतासे प्रकाशित करेगी और अगर उन्होंने अपनी संकुचितता न छोड़ी तो वे अपने आपको तेजोहीन बना लेंगे। श्रीराधाकृष्णनका यह कथन उपयुक्त ही है कि कॉलेज और यूनिवर्सिटियाँ धर्म-प्रचारके स्थान नहीं हैं; ये तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध और व्यापक ज्ञान देनेवाली शिक्षासंस्थाएँ हैं। वर्तमान युगमें प्रत्येक विषयमें सार्वजनिक शिक्षाकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इस युगमें धर्मकी भी सर्वग्राह्य सार्वजनिक शिक्षा कितनी आवश्यक है और इस विषयमें जनताकी कितनी रुचि है, यह हमें दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई धर्मविषयक ऐतिहासिक और तुलनात्मक शिक्षासे मालूम हो जाता है। यद्यपि ऐसी शिक्षाका प्रारम्भ यूरोपियनोंद्वारा और यूरोपकी भूमिपर हुआ था, फिर भी यह प्रसन्नताकी बात है कि भारतके एक सच्चे ब्राह्मणने उसी यूरोपकी भूमिमें इस विषयका गुरु-पद प्राप्त किया है। मनुके इस कथनका कि 'किसी भी देशके निवासी भारतमें आकर विद्या ग्रहण करें' गहरा आशय यह भी हो सकता है कि भारतके युगानुरूप ब्राह्मण भारतके बाहर जाकर भी युगानुरूप शिक्षा देंगे। जहाँ सनातन संस्कारके द्विज आज भी मनुके इन शब्दोंसे चिपके हुए हैं वहाँ मनुके ज्ञानके उत्तराधिकारी श्रीराधाकृष्णन शब्दोंसे न चिपककर उसके गर्भित अर्थको अमलमें ला रहे हैं।

बुद्धि, स्मृति, विशाल अध्ययन, संकलनशक्ति और भाषापर असाधारण प्रभुत्व आदि सर्वगुणसंपन्न होते हुए भी अगर श्रीराधाकृष्णनको आर्य धर्म और उसके तत्त्वोंका विशद सूक्ष्म और समभावी ज्ञान न होता, तो उनके द्वारा इतनी सफलतासे विश्वके सभी धर्मोंकी तात्त्विक और व्यावहारिक मीमांसा होना असंभव था।

यद्यपि इस पुस्तकके पदपदसे विशदता टपकती है तो भी पाठकोंको उसका कुछ नमूना पृष्ठ १७५ में 'निवृत्ति बनाम प्रवृत्ति' के अन्तर्गत चित्रित किये गये चित्र-परसे उपस्थित किया जा सकता है। पाठक देख सकते हैं कि इस अध्यायमें पूर्व और पश्चिमके धर्मोंका स्वरूप-भेद, मानस-भेद और उद्देश्य-भेद कितनी खूबीसे चित्रित किया गया है। उनकी विचार-सूक्ष्मताको प्रदर्शित करनेके लिए दो तीन उदाहरण यथेष्ट होंगे। लेखक मोक्षके स्वरूपकी चर्चा करते हुए धर्मोंके एक गूढ रहस्यका उद्घाटन करते हैं। कुछ लोग मोक्षको ईश्वरकी कृपाका फल मानकर बाहरसे आनेवाली भेंट समझ लेते हैं, तो कुछ उसे आत्म-पुरुषार्थका फल मानते हैं। इसके सूक्ष्म विवेचनमें श्रीराधाकृष्णन वास्तवमें योगशास्त्रकी 'चित्तभूमिका' जैनशास्त्रके 'गुणस्थानोंका' और बौद्ध-पिटकोंके मार्गका ही अत्यन्त सरल भाषामें विवेचन करते हैं। उनका कथन है कि अपने हृदयमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमशः होनेवाला विकास ही मोक्ष है। ईश्वरकी कृपा और आत्माका पुरुषार्थ दोनों एक ही क्रियाके दो पहलू हैं। (पृ ११९) कर्म और पुनर्जन्मके विषयमें चर्चा करते हुए, पापीके पापको धोनेके लिए दूसरेको दुःख भोगना पड़ता है, इस ईसाई धर्मके सिद्धान्तकी सूक्ष्म समीक्षा की गई है और पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है कि स्वकृत कर्म अन्यथा नहीं हो सकते और अगर होते भी हैं तो कर्त्ताके सत्पुरुषार्थसे ही। यह चर्चा पृ० १३३ से प्रारम्भ होती है।

भिन्न भिन्न संप्रदायोंमें परमात्मदर्शनके साधनोंके विषयमें कई विरोधी दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होते हैं। एक परमात्म-दर्शनके लिए किसी मूर्तिका अवलंबन लेता है तो दूसरा उसे निरर्थक कहकर चिन्तन और जपको परमात्म-दर्शनका साधन मानता है। इन दो मार्गोंमें स्थित गहरे विरोधने भाई-भाई और संप्रदाय-संप्रदायमें संक्रामक विषका सिंचन किया है और अनेकोंके प्राण हरे हैं। इस विरोधका परिहार श्रीराधाकृष्णनने जिस मौलिक ढंगसे किया है उसे सुनकर मुझे अपने जीवनकी एक अद्भुत घटनाका स्मरण हो आया। मैं जन्मसे मूर्ति नहीं माननेवाला था। अनेक तीर्थों और मंदिरोंमें जानेपर भी उनमें पाषाणकी भावनाके अतिरिक्त दूसरी भावनाका मेरे मनमें उदय नहीं हुआ। एक बार प्रखर तार्किक यशोविजयजीका 'प्रतिमाशतक' पढ़ा गया। उसमें उन्होंने एक सरल दलील दी है कि परमात्माका स्मरण करना उपासकका ध्येय है। यह स्मरण यदि नामसे हो सकता है तो रूपसे भी हो सकता है। तब क्या यह उचित है कि एकको मानें और दूसरेको त्याग दें? इस तर्कसे मेरे जन्मगत कुसंस्कारोंका लोप हो गया। श्रीराधाकृष्णनने भी मूर्तिविरोधियोंके सामने यही वस्तु बहुत विस्तार और सूक्ष्मरीतिसे उपस्थित की है। उनका कथन है कि परमात्म-तत्त्व तो वाणी और मनसे अगोचर है; लेकिन हमारे सदृश अपूर्ण व्यक्तियोंके लिए उस पथमें आगे बढ़नेके लिए और उसके स्मरणको पुष्ट करनेके लिए अनेक प्रतीक हैं। भले ही वे प्रतीक काष्ठ, पाषाण या धातुरूप हों या कल्पना, जपस्वरूप मानसिक या अमूर्त्त हों। वस्तुतः ये सब मूर्त-अमूर्त प्रतीक ही तो हैं। उन्होंने इस चर्चामें मानसशास्त्रके सिद्धान्त और ज्ञानका जो सुन्दर सम्मेलन किया है उसके ऊपर अगर कोई तटस्थतासे विचार करे, तो उसका पुराना विरोध खण्ड खण्ड हुए बिना नहीं रहेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीराधाकृष्णनके निरूपणकी खूबी उनके समभावमें है। वे गाँधीजीके समान ही समभावको सहिष्णुता, दया और उदारतासे भी ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं। इस्लाम धर्मकी समीक्षा करते समय वे उसके दो तत्त्वों—ईश्वरका पितृत्व और मानवी भ्रातृत्व—को अपनाने और जीवनमें उतारनेके लिए हिन्दुओंको प्रेरित करते हैं। यद्यपि वे मुख्यरूपसे ईसाईयोंके सामने ईसाई धर्मके भ्रामक विचारोंकी खूब टीका करते हैं, तो भी ईसाई धर्मके मानव-सेवा, व्यवस्था आदि तत्त्वोंको ग्रहण करनेका संकेत करते हैं। हिन्दुओंके लिए भी उनकी कुरूप और जंगली प्रथाओंको त्याज्य बताना श्रीराधाकृष्णनकी समतोल बुद्धिका प्रमाण है। परन्तु राधाकृष्णनकी वास्तविक संस्कारिणी और सौंदर्यदृष्टि तो उस समय व्यक्त होती है जिस समय वे कहते हैं कि अहिंसाकी जो बढ़ बढ़कर बातें करते हैं वे ही पशुयज्ञोंको उत्तेजन देते हुए मालूम पड़ते हैं (पृ० १६७)। इसी प्रकार वे कहते हैं कि एक दूसरेके खंडनमें मशगूल रहनेवाले अनेक वाद, बुद्धिसे अगम्य तत्त्वोंका पिष्ट-पेषण किया करते हैं।

'धर्म और राष्ट्रीयता' शीर्षकके अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित किया गया है जो आजके विचारकोंके मस्तिष्कमें चक्कर काट रहा है। उसका तात्पर्य यह है कि धर्मसंघोंको मिथ्या राष्ट्राभिमानमें नहीं पड़ना चाहिए। उन्होंने यह बात मुख्यतः ईसाई धर्मको लक्ष्यमें रखकर कही है। ईसाई धर्मने इस राष्ट्राभिमानके वशवर्ती होकर अपनी आत्माका हनन किया है। ईसाई संघ अपने राष्ट्रके ही वफादार रहते हैं, ईसाके सिद्धान्तोंके नहीं। यही दोष मुसलमानोंमें पाकिस्तानके रूपमें अवतरित हो रहा है। इसका फल यह होगा कि जो मुसलमान जिस देशमें रहते हैं उनके लिए वही सर्वोच्च हो जायगा, कुरानके सिद्धान्त नहीं। अगर हिन्दू-महासभा भी इस प्रकार चलेगी तो उसमें भी यही दोष आ जायगा। जापानी बौद्धोंने अपने बौद्ध धर्मको जापानकी राजसत्ताको सौंप दिया है। इस तरह धर्मके तेजोहीन होनेपर जब राष्ट्र लड़ते हैं, तब धर्मगुरु उनको युद्धसे पराङ्मुख करनेका धार्मिक बल खो देते हैं। गाँधीजी राजनीतिमें भी धर्मको स्थान देते हैं। उनका यह धर्म कोई एक संप्रदायका नहीं बल्कि सर्वसंप्रदायसम्मत प्रेम, सेवा और त्यागका धर्म है। गाँधीजी राष्ट्रके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए लड़ते हैं लेकिन धर्मको निर्जीव या गौण करके नहीं। राष्ट्रके विपरीत मार्गपर जानेपर उसे धर्म दृष्टिसे ही सुमार्ग बताते हैं। जिस प्रकार पराधीनतासे मुक्त होनेके लिए वे धर्मका आश्रय लेकर कार्यकी योजना बनाते हैं उसी प्रकार स्वराष्ट्र शुद्ध धर्मसे रहित न हो जाय, इसकी भी सावधानी रखते हैं। जब लोग कहते हैं कि गांधीजी राष्ट्रीय नहीं, धार्मिक हैं; तब इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि वे हैं तो राष्ट्रीय ही लेकिन राष्ट्रको विपरीत मार्गपर न जाने देनेके लिए सावधान हैं, और इसीलिए वे धार्मिक हैं। अगर वे सिर्फ धार्मिक ही होते, तो दूसरे निष्क्रिय साधुओंकी तरह एकांतमें चले जाते। लेकिन वे तो धर्मसे ही राष्ट्रोद्धार करना ठीक मानते हैं और उसीसे धर्म और अधर्मकी परीक्षा करते हैं। गाँधीजी अगर सिर्फ धार्मिक ही होते तो वे धर्मके नामपर समस्त देशको उत्तेजित करते और दूसरे धर्मोंका सामना करनेके लिए कहते। लेकिन वे तो दूसरोंकी लुटारूवृत्तिका विरोध करते हैं, उनके अस्तित्वका नहीं। इसी भाँति वे स्वदेशकी निर्बलताका विरोध करते हैं और साथ ही राष्ट्रके उद्धारमें जरा भी उदासीनता नहीं आने देते। जिस समय धर्म राष्ट्रके वशमें हो जाता है उस समय वह राष्ट्रके आक्रमण-कार्यमें सहायक होता है और दूसरोंकी गुलामीका पोषण करता है, साथ ही साथ स्वराज्यमें गुलामीका बीज वपन करता है। ग्रीस, रोम, अरब आदि देशोंमें जो हुआ है वही जापानमें बौद्ध धर्मके द्वारा हो रहा है। जब धर्म राष्ट्रके अधीन हो जाता है तब राष्ट्र अपने बचावके लिए अगर अधर्मका आचरण करता है, तो उसमें भी धर्म सहायक होता है। उदाहरणके तौरपर चीनका बौद्ध धर्म लिया जा सकता है। जब चीन अपने दुश्मनोंसे हिंसक युद्ध लड़ता है, तब वहाँका बौद्ध धर्म उसमें सहायक बनता है। यही है धर्मकी राष्ट्राधीनता। अगर धर्म प्रधान रहता है तो वह राष्ट्रको आक्रमण नहीं करने देता, उसमें सहायक भी नहीं बनता, स्वराष्ट्रको गुलामीसे मुक्त करनेके लिए भी अधर्म्य साधनोंका उपयोग नहीं होने देता। इसके विपरीत वह धर्म्य साधनोंकी नई योजना बनाकर देशको पराधीनतासे मुक्त करता है। इस दृष्टिसे अगर कोई देश धर्मकी स्वतंत्रताका दावा कर सकता है तो वह भारत ही है और वह भी गाँधीजीके हाथों। गाँधीजीका धर्म सक्रिय और निष्क्रिय दोनों है। पर-सत्वको छीननेमें तो वह निष्क्रिय है लेकिन स्व-सत्व सिद्ध करनेमें सक्रिय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत आक्रमण तो करता ही न था, इस लिए उसके धर्मोंमें आक्रमण कार्यमें मदद करनेका दोष आया ही नहीं जैसा कि इस्लाम और ईसाई धर्ममें आ गया है। लेकिन इसमें आक्रमण सहनेका या अन्यायका विरोध न करनेका दोष आ गया है। उसीको दूर करनेके लिए गाँधीजी प्रयत्न करते हैं। धर्मद्वारा राष्ट्रको पराधीनतासे मुक्त करनेका गाँधीजीका मार्ग अपूर्व है। श्रीराधाकृष्णन और टैगोर आदि जिस समय धर्म और राष्ट्राभिमानका सम्मिश्रण नहीं करनेकी बात कहते हैं, उस समय उनके सामने सभी अधर्मगामी राष्ट्रोंका सजीव चित्र होता है।

इस ग्रंथका नामकरण भी उचित ही हुआ है। इसके सभी निबंध और प्रवचन मुख्यरूपसे धर्म-मिलनसे संबंध रखते हैं। धर्म-मिलनका साध्य क्या होना चाहिए, यह मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर श्रीराधाकृष्णनने स्वयं ही 'महासमन्वय'की चर्चा करके दिया है। प्रत्येक धर्मके विचारक, अनुयायी और ज्ञाताओंका यह निश्चित मत है कि धर्मान्तर करनेकी प्रवृत्ति अनिष्ट है। साथ ही साथ किसी भी धर्मका उच्चतर अभ्यासी और विचारक ऐसा नहीं है जो अपने परंपरानुगत धर्मके स्वरूपसे संतुष्ट हो। प्रत्येक सुविचारक और उत्साही परंपरागत धर्मभूमिको वर्तमान स्थितिसे विशेष उन्नत और व्यापक बनानेकी इच्छा रखता है। एक तरफ पन्थान्तर या धर्मान्तरकी ओर बढ़ती हुई अरुचि और दूसरी ओर अपने अपने धर्मका विकास करनेकी, उसे विशेष व्यापक और शुद्ध करनेकी उत्कट अभिलाषा, इन दोनोंमें विरोध दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह विरोध ही 'महासमन्वय'की क्रिया कर रहा है। कोई धर्म सम्पूर्ण नहीं है, साथ ही यह भी नहीं है कि दूसरा पूर्णरूपसे पंगु है। जागरूक दृष्टि और विवेकशील उदारता हो तो कोई भी धर्म दूसरे धर्ममेंसे सुन्दर वस्तु ग्रहण कर सकता है। इस-प्रकार प्रत्येक धर्मका उच्चीकरण संभव है। यही धर्मजिज्ञासुओंकी भूख है। यह भूख श्रीराधाकृष्णनके सर्वधर्मविषयक उदार और तटस्थ तुलनात्मक अध्ययनसे संतुष्ट होती है और वे ऐसे निरूपणद्वारा भिन्न भिन्न धर्मोंके अनुयायियोंको अपने अपने धर्ममें स्थित रहकर उच्चतम स्थिति प्राप्त करनेका संकेत करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org